1962 No-3

❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ६ Year 6

अंक ३ Number 3

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल
काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)

1962. No-3

वार्षिक मूल्य ३) एक अंक १)

प्रकाशक — श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहांपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची :-

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—प्रार्थना		१
२—साधना	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़	२
३—सहज मार्ग साधना	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	५
४—जोगी ! मत जा, मत जा, रे	कु० कस्तूरी	१०
५—अतृप्ति	कु० केशर चतुर्वेदी, बी० ए० बी० टी०	१६
६—साधना पद्धति	राजाराम वर्मा, एम० ए०	२३
७—स्वास्थ्य के लिये	काशीराम अग्रवाल	२८
८—बन्दे करि ले हरि से प्यार	हरिश्चन्द्र शाहाबादी	३२
९—प्राणाहुति और सहज मार्ग	श्री आयल रेड्डी, सेडम् गुलबर्गा	अ
10—Necessity of a Guide	Shri Ram Chandra Ji President	33
11—Emotional Integration of India	Sri S. C. Srivastava, M. A.	38
12—A Critic of Concentration	Sri Raghvendra Rao, B. Sc., B.E.M.I.S.E. Bellary, South Inpia	41
13—The Sahajata of Sahaj Marga	S. P. Srivastava	47
14—A Thought.		56
15—My Master of This World & Beyond (I)	Sri Ram Chandra Saxena	57
16—Teachings of Sahaj Marga.		64

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

Ten Commandments of Sahaj Marga

1. Rise before dawn. Offer your prayer and puja at the fixed hours, preferably before sunrise, sitting in one and the same pose. Have a separate place and asan (seat) for worship. Purity of mind and body be specially adhered to.
2. Begin your puja with a prayer for spiritual elevation with a heart full of love and devotion.
3. Fix up your goal, which should be complete oneness with God. Rest not till the ideal is achieved.
4. Be plain and simple, to be identical with Nature.
5. Be truthful. Take miseries as divine blessings for your own good and be thankful.
6. Know all people as brothren and treat them as such.
7. Be not revengeful for the wrongs done by others. Take them with gratitude as heavenly gifts.
8. Be happy to eat in constant divine thought, whatever you get with due regard to honest and pious earning.
9. Mould your living so as to rouse a feeling of love and piety in others.
10. At bed time feeling the presence of God, repent for the wrongs committed. Beg forgiveness in a suppliant mood, resolving not to allow repetition of the same.

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
(उठो जागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ६] शाकाब्द १८८४, सं० २०१६ विक्रमी [Year 6
अङ्क ३] Year 1962 [No. 3

❀ प्रार्थना ❀

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

O, Master !
Thou art the real goal of human life
We are yet but slaves of wishes
putting bar to our advancement.
Thou art the only God and Power
to living me upto that stage.

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

साधना

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

[गत अङ्क से आगे]

यह सच है कि जागृति अर्थात् नासूती या शारीरिक क्षेत्र में अस्तित्व, विबोध और आनन्द तीनों ही हैं, और उनके गुँथे रहने का भान होता है। इसका कारण यह है कि—

१—कोई प्राणी ऐसा नहीं है जो तीनों शरीरों का समूह न हो। हृदय बीच में रहता हुआ, ऊपर नीचे और अपने क्षेत्र के प्रभावों को लिए हुए काम करता है और यह उसका विशिष्ट गुण है।

२—यह देखा जाता है कि साँस आती है, साँस जाती है और साँस ठहरा करती है। यह रेचक पूरक और कुम्भक हैं जो हर समय और हर हालत में हुआ करते हैं। इसका कारण तीनों शरीरों का गुँथा रहना है। यह न समझना चाहिए कि स्वप्न में जागृति नहीं या जागृति में सुषुप्ति नहीं या सुषुप्ति में जागृति या स्वप्न नहीं है। किन्तु इस बात का ज्ञान हर व्यक्ति को नहीं होता, केवल आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति इसको समझ सकते हैं।

हृदय अधिकांश विचार सम्बन्धी उधेड़ बुन ही के लिए विशिष्ट है और आत्मा अधिकांश सुख और शान्ति के लिए विशिष्ट है। अन्यथा इन तीनों में तीनों के ही प्रभाव गुँथे हुए रहते हैं। यही

कारण है कि हर क्षेत्र में कर्म, ज्ञान और आनन्द साथ-साथ चलते हैं। हाँ विशिष्टता और अधिकता के दृष्टिकोण से वह अलग प्रतीत होते हैं।

स्थूल देह का विशिष्ट गुण मूढ़ता के साथ कर्म है, और सूक्ष्म शरीर अर्थात् हृदय का विशिष्ट गुण कर्म, अज्ञान, ज्ञान और उसकी ऊँची अवस्था में केवल ज्ञान है। कारण शरीर का विशिष्ट गुण शान्ति और स्थिरता है जो कि सुख है और जब हृदय उसके घाट पर बैठता है तो उसके रूप को अपनाकर स्थिर और शान्त हो जाता है। उसके इस बैठने का नाम 'उपासना' है। हृदय आत्मा के साथ यही बर्ताव और व्यवहार करता है। जो किसी भ्रम के कारण प्राप्त वस्तु को अप्राप्त मानकर उसकी प्राप्ति के विचार में हैरान व परेशान रहता है उसको अवश्य ही ध्यान और क्रिया की मंज़िलें तय करनी पड़ेंगी। जो प्राप्त वस्तु को प्राप्त जानता है, उसे इनकी क्या आवश्यकता है हाथ में पहने सोने के कंगन का ऊपर की तरफ खिसक जाने पर उसके चोरी जाने का भ्रम होना-ऐसी ही तलाश और खोज को क्रिया (अमल) और सतत ध्यान (शग़ल) कहते हैं। भ्रमित चित्त को क्रिया और सतत ध्यान की आवश्यकता है। निकट बैठने वाला और आसन लगाने वाला मन ही है। मन जिस पर बैठता है तुरन्त उसका रूप धारण कर लेता है। स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण शरीर की तो बात ही क्या, मन, हाथ, पैर, आंख, कान, नाक आदि सभी उसकी बैठक हैं। यह सब पर आसन जमाता है और सब की उपासना करता है। जितनी भी बाह्य वस्तुएँ और बाह्य दृश्य हैं सब पर मन ही अपनी वृत्ति (धार) द्वारा बैठता

है और उनके तीन प्रकार के सुख (लुत्फ़) का उपभोग करता है। उदाहरणार्थ आँख के सामने मेज़ है मन की धार आँख के द्वारा निकली और मेज़ को इस तरह घेर लिया जैसे नहर का पानी नहर से निकल कर क्यारी में जाकर उसी का रूप धारण कर लेता है।

कर्म, ज्ञान और आनन्द ये तीन प्रकार के सुख लुत्फ़ हैं। आँख से धार निकल कर किसी वस्तु को देखते हुए उस पर लगातार चोट करती है, यह कर्म है। आँख अपनी वृत्ति से उसको घेर कर उसका रूप धारण करके उसका ज्ञान प्राप्त करती है. यह ज्ञान है। और यह आँख बाहरी दृश्यों पर जम कर बैठ जाती है और उसका मजा लेती है, यह आनन्द है। इस प्रकार कर्म, ज्ञान और आनन्द जो सच्चिदानन्द के गुण हैं किसी तरह हर जगह साथ-साथ चलते हैं। व्यवहार, विचार और परमार्थ में तीनों की एकरूपता है, यहां तक कि यही त्रिगुणात्मक सिद्धान्त स्त्री पुरुष के संयोग में मौजूद है।

कर्म की उपासना में प्रारम्भिक और मूढ़ता की गति है। उस बैठक पर देर तक मन नहीं बैठ सकता। ज्ञान की उपासना ऊपर और नीचे के सोच विचार की गति है। यहाँ भी आसन खूब नहीं जमता। यह अद्धड़ (बीच) का आसन है किन्तु अन्तिम अवस्था पर मजबूती के साथ आसन जमता है, अतः उसमें सुख होता है। इस वजह से इस सुख की हालत को सबसे अधिक महत्व दिया गया है।

किसी की बातों को सुनना कर्म है। बातों पर विचार करके आपत्तियाँ और प्रश्न पैदा करना ज्ञान है, और उन बातों की

शेष पृष्ठ ६ पर

❀ सहज मार्ग साधना ❀

[श्री रामचन्द्र, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन]

हमारा तो सहज मार्ग है, जिसको कुदरती या प्राकृतिक मार्ग कहते हैं। कुदरत सहल और सादा है और इन्हीं तरकीबों से वह जानी जा सकती है। अत ऐसी ही तरकीबें सबको बताई जाती हैं जो आसान हों, और आसानी से अमल में आ सकें। उनका नतीजा बहुत अच्छा होता है। सबसे पहले आवश्यक यह है कि मन नितान्त साफ हो जाये। उसका उतार-चढ़ाव और बहाव समाप्त होकर वह असल हालत पर आ जाए। वह असल हालत क्या है? यह वह हालत है कि जिस समय संसार की पैदायश के मौके पर हम नितान्त स्वच्छ क्षोभ की हालत अपने में बन्द किये हुए पैदा हुए थे। उसी हालत में अभ्यासी को आना चाहिए। थोड़ा पर्दा हट जाने की देर है। यदि हटा दिया तो वह उसके निकट ही मिलेगी।

मन की घनिष्ट दौड़ और उसका मोटा होना ऐसी मुसीबत है कि जब तक उससे छुटकारा नहीं मिलता हल्कापन वास्तविक रूप में नसीब नही हो पाता। मेरी बहुत सी मेहनत उसको दूर करने में लगती है और अभ्यासी उन तरीकों को जो समय-समय पर उन्हें बतलाये जाते हैं अमल में नहीं लाते। एक दम से मैं दूर भी नहीं करना चाहता, इसलिए कि डर रहता है कि स्नायुमण्डल (Nervous system) पर कहीं असर न पड़ जावे। अभ्यासी में यह शक्ति बहुधा अवश्य रहती है, कि वह यदि चाहे तो उससे एकदम अलग हो जाए।

हमको तो इतना सीधा सादा बनना है जैसी कि प्रकृति (nature) है और यही सादगी उसकी जान है। अपना टेढ़ा मेढ़ा पन हर तरह से खो देना है, जिससे कि हम प्रकृति (nature) से सामञ्जस्य (harmony) की दशा में आ सकें। प्रकृति की सादगी स्वयं उसका पर्दा बन गई है। हमारी सादगी भी अगर कहीं पर्दा बन जावे तो मुमकिन है कि हम अपनी हालत उसी तरह की पाने लगें, और पूरा सबूत हो जावे कि हम वास्तव में प्रकृति से हम-आहंग (In-harmony सामञ्जस्य की अवस्था में) हैं। इस हिमाकत (Ignorance) की मिसाल यदि आप ध्यान दें तो आपके निकट ही मिलेगी। संभव है कि मुझमें कुछ ऐसी सादगी मिले जिसको प्राप्त करना मेरा उद्देश्य है।

प्रकृति में बहुधा जोर भी पैदा हो जाता है। कब ?— जब कोई ताकत उसी की बनाई हुई उससे वाञ्छित परिणाम निकालने के लिए अपना सम्बन्ध जोड़ देती है ऐसी दशा में यह आला ऐसी ताकत रखने वाले के लिए होती है और उसकी मौजूदगी भी इसी लिए होती है। उसका बनाव भी इसीलिए होता है। जब तक उसमें (प्रकृति की सादगी में) रंग नहीं दिया जाता, तब तक ऊषा (शफक) का आरम्भ नहीं होता। प्रकृति का नियम उसको ऐसा करने के लिए विवश करता है यह कब होता है ?—जब जमाना बदलने पर होता है और उन जहरीले प्रभावों को जब मालिक की मौज दूर करने की होती है।

हमको प्रकृति की तरह सादा ही बनना चाहिए। यह और बात है कि वह अपने में उबाल पैदा करने के लिए किसी को ऐसा

बना लेवे। प्रकृति की जिंदगी और फैलाव हमेशा सादा ही रहेगा। उसमें, अलबत्ता, किसी विशिष्ट इच्छा शक्ति (Special will) रखने वाले के असर से लहरें पैदा होने लगतीं हैं जिसकी ज्यादा बढ़ जाने की हालत को मैंने उबाल कहा है। यदि प्रकृति में उबाल ही होता तो उसके प्रकम्पनों (vibrations) में ऐसे ज्वार-भाटे रहते कि हर जगह असमानता अर्थात ऊबड़-खाबड़-पन (insimilarity) ही नजर आता और बहुत से गड्ढे ऐसे बन जाते कि उसकी एकसानियत या समतलता (evenness) को बदनाम ही करते। उबाल से मेरा मतलब गुस्सा से नहीं है, यह तो निहायत बुरी चीज है। बल्कि इससे मेरा मतलब यह है कि जो बात एकसानियत के विरुद्ध हो। ठहराव के विरुद्ध वाली स्थिति उबाल की कही जा सकती है। मैंने ऊपर कहा है कि यदि प्रकृति उबाल की सूरत शुरू से ही अपने में पैदा कर देती तो नित्य प्रति परिवर्तन ही हुआ करते, और उसमें एकसानियत और सादापन समाप्त हो जाता। हर जगह गड्ढे ही गड्ढे नजर आते। उबाल जब अभ्यासी में मौजूद होता है तो उसका उफान उसमें तकलीफ पैदा कर देता है। मेरी तवज्जह उसको स्थिर करने के लिये प्रवाहित होती है। अभ्यासी में यह उबाल क्या है ? यह उसके मन का तूफान है। उसको ट्रेनिंग अच्छी नहीं मिली इसलिए उसने टट्टी के ओट में शिकार खेली। यानी उसको यह यकीन करा दिया कि उसके यह मानसिक उतार-चढ़ाव बहुत लाभदायक हैं। यह शुद्ध प्रकार की गड़बड़ी है। मैं उसे दूर करने का प्रयास करता हूं, किन्तु उस समय यह अच्छी तरह दूर होती है। जबकि अभ्यासी मेरी तरकीबें साथ लेकर चलें, और

मुझको अवसर दें कि मैं असलियत की ओर ले जाने की अधिक कोशिश करूं। काश, आप मुझको असल खिदमत करने के लिए जल्द से जल्द मौका दें।

साधारणतः लोगों को साकार और निराकार का मसला परेशान कर रहा है। दोनों रूपों से ईश्वर मिल सकता है, मगर सीढ़ी-ब-सीढ़ी चलना होगा। जो व्यक्ति साकार उपासना करते हुए अपने आप निराकार पर न आ जावे तो समझ लीजिए कि उसने साकार उपासना ठीक तरीके से की ही नहीं और जो व्यक्ति निराकार उपासना करते हुए उससे परे वाली हालत में न चला गया तो उसने निराकार उपासना ठीक से नहीं की। परम मुक्ति (Liberation) तभी हो सकती है जबकि राम और कृष्ण कहते हुए भी उन दोनों हालतों को पार कर जावे। मीरा बाई ने तमाम उम्र कृष्ण ही कृष्ण कहा किन्तु वह कृष्णमयी हो गयी थी, और जगत उनको ऐसा ही मालूम होता था, वह एक ही आत्मा का प्रवाह सबमें देखती थीं उसको भले ही कृष्ण नाम से पुकारतीं हों, यह और बात है। मैं अव्वल दर्जे की ठोस हालत उसको समझता हूं कि अपनी हालत से न हटे या अपने स्वभाव को न छोड़ सके। और यह ऐसी मूर्ति पूजा है, जिसके अन्दर बाहर ठोसता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भाई, हम भी तो अपने यहाँ जाहिरा तौर पर साकार से चलते हैं। साथ ही साथ हम वह वस्तु जाने या अनजाने ले लेते हैं जो साकार और निराकार से परे है। सिखाने वाला कभी किसी को गड्ढे में नहीं गिराता जब कि उसकी निगाह में असलियत ही असलियत

फिर रही हो। यह राजयोग में ही शक्ति हो सकती है कि असलियत ही असलियत भासने लगे; और भाई, जब हमारा काम बनता है तो हम उसी को क्यों न ले लेवें। हम निकटतम वस्तु पहले से लेते हैं। यह निकटतम वस्तु क्या हो सकती है ? वही जो सबसे पहले थी और आखिर में भी रहेगी। दूर वाली चीज क्या हो सकती है ? जो उस चीज के मन्थन करने में पैदा हुई और उसके बनने में बहुत समय लगा।

आप आगे से कृपया अपनी स्थिति-कम से कम वह बातें जिनको मैं आप में रखना नहीं चाहता- अवश्य लिखते रहें जिससे मुझे अन्दाजा होता रहे और उसके हटाने में कम मेहनत लेवें।

एक अभ्यासी को लिखे गये पत्र से उद्धृत

पृष्ठ ४ का शेषांश—

असलियत या सार तत्व पर मन ठहरा हुआ हो, यह उपासना हुई, जो आनन्द देने वाली है। इनका नाम शास्त्रों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन है। निदिध्यासन का शब्द-कोष में दिया अर्थ तो ध्यान में आरूढ़ होना है (नि-पहले; धि-ध्यान; आसन-बैठक)

ज्ञान प्रकाश अवश्य है किन्तु अपने आप में उद्देश्य नहीं है किन्तु उद्देश्य की पूर्णता का साधन कहा जाता है। हम रात के समय दीपक को केवल दीपक के ही लिए नहीं जलाते किन्तु दीपक के प्रकाश में कुछ काम करते हैं जो कि उद्देश्य होता है। अतः हमारे ज्ञान का भी कुछ उद्देश्य है। वह अपने आप में उद्देश्य नहीं है।

किन्तु अभी तक यही सुनते चले आये हैं, कि ज्ञान ही परम उद्देश्य है और वेदान्त भी यही कहता है। यह नहीं मालूम कि उपासना को आनन्द क्यों कहा जाता है। क्योंकि सामीप्य और साथ बैठने का भी तो कोई उद्देश्य होना चाहिए। अतः यदि इसका उद्देश्य है तो ज्ञान ही हो सकता है।

(क्रमशः)

जोगी ! मत जा, मत जा, मत जा रे

(कु० कस्तूरी)

यह बात न तो लम्बी लम्बी जटाओं वाले संयासी बाबा की है और न चिमटा बजा बजाकर गाते हुये उन अपरिचित महत्-पुरुषों की है कि जिनकी बातें केवल वे ही जानते हैं। न उन बड़े बड़े मठाधीशों की है कि जिनकी भ्रू के एक इशारे से कुबेर की लक्ष्मी प्राँगण में थिरकने लगती है। वरन् उस सीधे सौम्य एवं विस्मृत से तरुण योगी की है कि जिसके ओष्ठ-द्वय से कर्ण-कुहरों में धीमी किन्तु स्पष्ट ध्वनि आती थी कि 'इस संसार के भोग नहीं समाप्त होते, हमीं समाप्त हो जाते हैं। तपस्या नहीं समाप्त होती तपस्वी समाप्त हो जाते हैं। समय नहीं जाता हमीं चले जाते हैं। किन्तु जब 'हमीं' चली जाती है तो फिर हम नहीं जाते, कभी नहीं जाते क्योंकि फिर कहीं जाना ही नहीं होता'।

ऐसे ही उस ग्राम के तरुवर की सुखद छाया में बैठा था वह जोगी। तरुवर की धरणी तक लटकती लम्बी लम्बी दाढ़ी एवं उस दाढ़ी में से भी निकले छोटे बड़े अनेक वृक्षों से ही उस वृद्ध तरुवर की अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता था। प्रौढ़ता की अंतिम श्रेणी को लाँघते हुए रामदीन की दादी का भी कहना था कि उसके बचपन में भी यह वट-वृक्ष इसी प्रकार उन्नत मस्तक किये खड़ा हुआ था। किन्तु तब ?

तब वह अबकी भांति लम्बी लम्बी लटकती जटाओं वाला वृद्ध योगी न था। वरन् बुढ़िया का कहना था कि चौथेपन में वह

भी योग लेकर जोगी हो गया था। सच ही तो वह जोगी था। जेठ की चिलचिलाती दोपहरियों में गर्म लू के थपेड़े उसकी धूनी रमा देते। लू में उड़ती तमाम ऊष्ण रज मानों उसके समस्त शरीर में भस्म का लेपन कर देती। एक बार सावन भादों की झड़ी उस जोगी के शरीर को पखार कर पुनः स्वच्छ करती किन्तु इसकी सुधि किसे थी ? वह तो जोगी था बेचारा। उस पर ऋतुओं का प्रभाव नहीं, समय की गति का भान नहीं। उसकी निस्वार्थ घनी छाया में तो चाहे मोहन की मुरली अपनी राधा की टेर लगाती चाहे अर्थी के पीछे 'राम नाम सत्य है' की ध्वनि से किसी जोगी को उसके जोग से विचलित करने की चेष्टा करते कितने ही मानव निकल जाते। किन्तु उस जड़ जोगी का ध्यान नहीं टूटा तो नहीं ही टूटा। काश वह ऐसा ही रहता। एक घोंस ?

हारे थके भगवान भास्कर क्रमशः रथ को राजधानी की ओर बढ़ाये लिए जा रहे थे किन्तु उष्णता के कारण रह रहकर मानों उन्हें लग रहा था कि आज दिन अस्ताचल भी कदाचित् दूर सरक कर मानों किसी वट-वृक्ष की शीतल-छाया को खोजने का प्रयत्न कर रहा था। या गर्मी से घबराये लोगों का भ्रम था कि आज दिन मानों इतना बढ़ गया था कि काटे नहीं कट रहा था। किन्तु कुछ भी हो न जाने कितनी दूर से हारा थका एक युवक न जाने कब उस वट-वृक्ष की शीतल-छाया में आ बैठा था। उसका शरीर धूप में चले आने के कारण तपाये हुये कंचन के सदृश प्रतीत होता था। दाढ़ी मूछों के स्थान पर छोटे छोटे बालों के उग आने से कुछ हरा हरा दीख पड़ रहा था। मुख पर शान्ति मानों शुभ्र

ज्योत्स्ना की भांति छिटकी हुई थी। उसके नेत्र मानों उसके हृदय ही में विला चुके थे, क्योंकि उसकी ऐहिक दृष्टि में ज्योति थी किन्तु चेतना न थी। तन पर कौषेय एवं कर में कौपीन न था वरन् शरीर से मिलते जुलते सादे वस्त्र मानों उसकी अर्ध-चेतन सी अवस्था से होड़ सी लगा रहे थे। वह बैठा था। बैठे ही बैठे पीठ वृक्ष के मोटे तने से टेककर नेत्र मूंदकर प्रायः ध्यानावस्थित सा हो गया। किसी ने बड़े ही मृदु एवं कोमल स्वर में प्रश्न किया।

कहाँ से पधारे हो जोगी बाबा ? क्या तुम्हें नींद आ रही है ? अभी तो दिन है क्या तुम्हारी माता इतने शीघ्र सोने को तुम्हें मना नहीं करती है ? अम्मा कहतीं हैं कि जो जल्दी सो जाता है उसे रात्रि में फिर तारे गिनने पड़ते हैं और मुझे तो भाई इतने अंकों की गिनती भी नहीं आती। तो क्या तुम्हें इतनी सारी गिनती आती है कि तुम तारों को गिन सको ?

तरुण ने मधुर स्वर सुनकर अपने विशाल, गम्भीर नेत्र खोलकर देखा तो एक प्रायः छः सात वर्ष की बालिका को अपनी ओर मुख किये अपने प्रश्न की आशा में खड़ी पाया। भोली सी आकृति, स्वस्थ बदन, विशाल-नेत्र लम्बी लम्बी बरौनियाँ। बलिका ने उसको नेत्र खोले देखकर कहा:-

बोलो न, अब तो तुम जाग भी गये। तुमने आंखें भी खोल दीं परन्तु तरुण फिर भी चुप। भाई तो क्या तुम्हारे नेत्रों में शीशा जड़ा हुआ है जो खोले हुए भी तुम देख नहीं पाते। मैं जब कभी माँ की डाट पड़ने पर तुम्हारी तरह आँखें खोले हुए देखती रहती हूँ तो माँ कहती है कि इस सिस्सो की आंखों में तो

शीशा जड़ा हुआ है जो आंख नीची करना ही नहीं जानती अबकी बार वह मौन न रह सका। जोगी ने मन्द २ मुस्कराते हुए कहा— अच्छा, क्या तेरा नाम सिस्सो है तभी तुझे सब ओर शीशा ही दिखलाई पड़ता है। मैं सो नहीं रहा था सिस्सो।

तो जागते हुये भी तुम क्यों न बोले ? अच्छा मैं समझ गई तुम बहानेबाज भी पक्के हो। जब तुम्हारी माँ से मैं तुम्हारी शिकायत करूंगी तब तो तुम इस बहानेबाजी के कारण बिना पिटे नहीं बच सकते।

परन्तु ! मेरी माता तुम्हारी शिकायत सुनने नहीं आसकेगी सिस्सो।

इतने में ही सिस्सो को पुकारती हुई उसकी माता उधर ही आ गई। वट-वृक्ष की छाया में बैठे तरुण - योगी को देखा तो देखती ही रह गई। मानों स्वयं जाग ही जोगी का स्वरूप धारण कर ग्राम को पावन बनाने उतर आता हो। पाँय लागूँ जोगी बाबा थके जान पड़ते हो कुछ जल इत्यादि ले आऊँ। चल सिसिया घर चल।

माता ! मैं न संयासी हूँ न योगी हूँ और न फकीर ही हूँ। मैं तो एक साधारण-जन मात्र ही हूँ।

कुछ भी हो महाराज आपके मुख की श्री बतला रही है कि आप कुछ भी न हो फिर भी कुछ हो। इतना कहकर शीघ्रतापूर्वक वह गृह की ओर चली गई। क्रमशः एक कान से दूसरे, दूसरे से तीसरे, होते होते बात उस छोटे से ग्राम भर में फैल गई कि कोई सिद्ध जोगी आये हैं अतः ग्राम की श्रद्धा यथाशक्ति उस बट-वृक्ष

के नीचे एकत्रित होने लगी। जो भी सुनता वही उन महापुरुष के दर्शनार्थ दौड़ पड़ता।

न मालूम क्या जादू था उस जोगी में कि बालक, वृद्ध, युवा जो एक बार उसे देखता मुग्ध हो जाता। वह न भी मुस्कराता तो भी उसके विशाल – नेत्रों को तो मानों मृदु – मुस्कान ने तदू-रूप ही प्रदान कर दिया था।

भाइयो ! तुम सब क्यों इतने परिश्रान्त हो रहे हो मैं भी तुम सबकी भांति एक मानव – मात्र ही हूँ फिर इसके लिये इतने मान – आदर की क्या आवश्यकता है भला बोलो मैं तुम सबकी क्या सेवा करूँ ?

महाराज! जिसमें हमारा कल्याण हो वही बात कृपया आप हमें समझावें। हम निपढ़ – ग्रामवासी हैं दिन रात धन – धान्य की उत्पत्ति के अतिरिक्त हमारा चित्त ही कहीं नहीं जाता है अब आप ही हमें कुछ बतावें।

थोड़े धन को प्रभूत समझकर प्रसन्न रहो, जोगी की गम्भीर वाणी शीतल वायु के नम्र थपेड़ों में थिरक उठी। इसका यह अर्थ नहीं कि उद्योग न करो पर अपनी आत्मा को दरिद्र और निर्बल न समझ कर तृष्णा को न बढ़ने दो क्योंकि तुमसे भी गिरी हुई दशा में कम से कम एक मनुष्य तो मिलेगा ही। धन्य धन्य की ध्वनि से वट की शीतल छाया में मानों और भी घनत्व छा गया था।

अब रात्रि अधिक हो चुकी अपने २ गृहों को लौट जाओ

किसी की अन्तरात्मा को तुमसे क्लेश न पहुँचे यही कल्याणकारी पथ है। ईश्वर–प्रेम की वेदी पर कर्मों की बलि देकर कर्तव्यों को करते हुए निर्द्वन्द्व सो जाओ। तब कोई भी तुम्हें न सता सकेगा।

क्रमशः भीड़ छँटने लगी। सबसे अंत में सिसिया की माता ने बगल में दबी पोटली में से निकालकर उसे कुछ खिलाया। सिसिया परोसने और जोगी बाबा के साथ खाने दोनों में व्यस्त थी। भोजनोपरांत सिसिया माता के साथ चली गई।

ग्रामवासियों की चिरौरी एवं सिसिया की भोली सी बिनती के कारण जोगी को उस वृक्ष के नीचे टिके कई दिन हो गये। ग्रामवासियों के साथ ही साथ लगता कि उस वट-वृक्ष को भी उस जोगी से बड़ा स्नेह हो गया था और उस तरुण-तपस्वी को भी स्नानादि के अतिरिक्त मानों कहीं अच्छा ही नहीं लगता था। रात्रि, दोंस उसी वृक्ष की छाया में पड़ा उस मौन जोगी को अपना चिर–प्रिय पद सुनाया करता "जोगी मत जा, मत जा, मत जा रे। वट-वृक्ष की टहनियाँ झूम झूमकर मानों पल्लवों से करताल बजातीं। मन्द २ गति से बहती बयार भी थिरक उठती। निकट ही रसाल तरु पर बैठी कोकिला अपने पंचम स्वर में जोगी की संगत करती। जब कदाचित किसी तरुवर पर चैन से बैठे पपीहे के श्रवणों में "जोगी मत जा रे" की सरस ध्वनि पड़ती तब उसके अंतस की प्रेयसी छटपटा कर कराह उठती "पी कहाँ, पी कहां" समस्त ग्राम-श्री विभोर हो उठती। जो भी सुन पाता उनका अंतर मानों एक अज्ञात्–वेदना से कराह उठता। किन्तु जोगी ?

वह तो गाकर निस्तब्ध बैठा मानों किसी बिसरी पहेली में उलझ जाता, और उस दिन सिसिया की बुआ माता से उसके बचपन की करुण-कथा सुनते २ वह बिसरी पहेली उसके समक्ष आज मानो सजीव हो उठी थी। रात्रि में निद्रा तो प्रयत्न करने पर भी उससे कोसों दूर थी। वह मानों स्पष्ट देख रहा था:—

अट्ठारह वर्ष की आयु में एक साधू बाबा के साथ वह गृह का परित्याग कर चुका था यद्यपि ममता का त्याग वह इतने शीघ्र न कर सका था। उसे अपने स्वर्गीय जमींदार पिता एवं भक्तिमती माता का स्मरण रह रहकर आता था। उसे अपने कोई भाई बहिन न था किन्तु अपनी माता द्वारा पालित एक अनाथ नन्हीं सी कन्या से अपार स्नेह था। अपने काम के समय के अतिरिक्त दिन भर उस दुध-मुंही बालिका को लिपटाये इधर उधर फिरता और वह बालिका भी सत्येन्द्र के बिना चैन न लेती थी। माता की स्नेहमयी लोरी में, तुलसीपूजन एवं गृहकार्यों में मीरा का एक ही पद गूँजा करता 'जोगी मत जा, मत जा, मत जा रे'। वे ही बालापन के संस्कार उसके हृदय-स्थल पर काचेघट की लकीर के समान पैठ गये थे और अपने पर नियंत्रण करते रहने पर भी एक दिन वह जोगी हो गया। सम्भवतः माता का वह जोग ही जोगी के रूप में उसके अंतर में पैठ चुका था। बहुत दिनों तक वह वेष बदलकर अपनी स्नेहशीला जननी एवं दुलारी बालिका को देख आता। किन्तु एक दिन ?

उसका गृह शून्य पड़ा था। पूछने पर लोगों ने बताया कि उस पुण्यशीला जननी का देहान्त हो चुका था और उस बालिका

को उसके रिश्ते की एक बुआ अपनी छाती से चिपकाये अपने घर चली गई। इसके पश्चात् ही !

जब शशि अपनी कला को पृथ्वी पर से समेटकर अपने लोक को जाने की तैयारी कर रहे थे। कोयलों की कूक तथा तोते आदि पक्षियों का कलरव संसारिक प्रपंचों से मलिन मानस को निर्मल बना रहा था ऐसे ही प्रभात में पथ पर जाते उस जोगी को कदाचित् इतना भी विस्मृत हो चुका था कि वह जोगी था। उसे इतना तक स्मरण न था कि उसका स्वयं-तत्त्व पार्थिव था या काष्ठ था।

कोई जब जोगी हो जाता है !

किन्तु ? लोगों का यही कहना था कि वह जोगी था और मानव-शरीर-मय तरुण जोगी था।

जोगी चला गया न माना; न माना। न जाने क्यों आज वयोवृद्ध वट-जोगी ने भी अपनी समाधि को त्यागकर अपनी टहनियों को हिला हिलाकर उसे कितना रोका था। प्रातः की उमड़ती भीड़ ने तथा विदा लेते समय उस करुण एवं तरुण योगी ने उस वृद्ध जटाओं वाले जोगी के अंतस से उमड़ती जल धारा को उसके कपोल कोपलों पर बहते देखा था। मानों उस वृद्ध जोगी के अंतस से उमड़ती जलधारा उस दूर गये जोगी की अब भी चिरौरी कर रही थी 'जोगी मत जा रे'। उसके आपस में लड़खड़ाते पल्लवों में से मानों उस वृद्ध की गिड़गिड़ाहट स्पष्ट सुन पड़ रही थी 'जोगी

मत जा रे'। और बट-छाया में बैठी जोगी की मीरा (सिसिया) अपने विशाल नेत्रों से अविरल अश्रु धारा बहाती हुई उसके प्रिय पद को गाने में बेसुध प्रायः हो रही थी। समस्त ग्राम ही सिसिया की उस स्वर-लहरी में लीन होकर मानों उस तरुण तपस्वी से विनती कर रहा था कि "जोगी मत जा !

मत जा !!

मत जा रे !!!

नोट:-सारी कहानी का सार एक ही लाइन पर आधारित है "कोई जब जोगी हो जाता है"

जोगी:-जिसका योग अथवा सम्बन्ध जब वास्तविक दशा में ईश्वर से सम्बन्धित हो जाता है। तब ? प्रकृति के विशुद्ध भुलावे, पृथ्वी की गुहारें, आसमान के बुलावे भी उसे अपनी ओर खींचने में असमर्थ हो जाते हैं।

कोई जब जोगी हो जाता है।

सद्गुरु की सहज-चेतना उसके अंतस की डोरी को जब ईश्वर से अपनी प्राण-शक्ति द्वारा इतना सुदृढ़ जोड़ देती है तब कोई जोगी हो पाता है।

❀ अतृप्ति ❀

(कुमारी केशर चतुर्वेदी बी० ए० बी० टी)

अचानक आँख खुली। ऊपर अनन्त-आकाश और सम्मुख विस्तृत धरती। चतुर्दिक ऋतुराज की अनन्त-सुषमा का साम्राज्य था। धरा-सुन्दरी अपने ही सौंदर्य से संकुचित और सिमटी हुई थी, लज्जा के आंचल में अपने को अवगुंठित किये हुये सभी के नेत्रों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गई थी। मैं भी उसकी इस अनोखी शोभा को निरखने और परखने का प्रयास करने लगी। ज्यों २ उसकी ओर दृष्टि जाती थी त्यों २ नूतन-लावण्य का आभास मिलता जाता था। धरा का एक एक कोना अपने में ही सम्पूर्ण दिखाई देता था-कहीं कोई कमी झलकती हुई प्रतीत नहीं होती थी। मैं मुग्ध थी न अपनी सुधि, न प्रकृति के निर्माण कर्त्ता ईश्वर की। कह नहीं सकती कितने समय तक यह मेरी दशा रही-परन्तु यह क्या-मन जैसे प्रकृति से दूर हटने का प्रयत्न करने लगा-दृष्टि भी इन मन-मोहक दृश्यों से दूर भागने को मचलने लगी-मन और दृष्टि के एकमत होजाने पर बुद्धि भी परे हटने लगी। किन्तु कहीं न कहीं तो मन-बुद्धि और दृष्टि को केन्द्रित होना ही था। प्रकृति से हटकर वह विधि-निर्मित इस विश्व में रमण करने लगी। संसार अच्छा लगने लगा। यहाँ की वस्तुओं और व्यक्तियों से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हो गया-इस मोह का बंधन प्रकृति-मोह से कहीं अधिक प्रगाढ़ था। यहाँ के सुख-

दुःख दोनों को ही मैं ममतालु दृष्टि से देखती हुई सहन करने लगी-अति सुख प्राप्त होने पर फूली नहीं समाई और अति दुःख होने पर भाग्य को, देव को और संसार को कोसती रही। कितना समय कितने जन्म इस उलझन, हर्ष-विषाद के इस चात्याचक में बीतगये-यह मुझे ज्ञात नहीं-हाँ इस बात का स्मरण अवश्य है कि एक दिन ऐसा आया जब मेरा चित्त विश्व से उचट गया, दृष्टि कुछ और खोजने लगी-मन-नगरी सूनी प्रतीत होने लगी - बुद्धि विचारों के ताने - बाने में उलझकर इस समस्या (उचाटपन) का निदान खोजने में संलग्न होगई। क्या करूँ - यह जटिल समस्या प्रश्न चिन्ह के रूप में मुझे व्यथित करने लगी - कहीं चैन नहीं, शान्ति नहीं - बस चारो ओर एक अभाव, बेचैनी और अतृप्ति दिखलाई देने लगी। विचार आया कि क्योंन कहीं भ्रमणार्थ चला जाये-मन बहल जायेगा - फलस्वरूप काशी, प्रयाग, गया, रामेश्वरम् जगन्नाथपुरी आदि स्थलों पर पर्याप्त समय तक घूमती रही। प्रत्येक स्थान पर कुछ क्षणों के लिए तृप्ति और शान्ति दृष्टिगत हुई परन्तु पुनः वही सूनापन और अभाव। व्यथित होकर पुनः प्रकृति सुन्दरी के अंक का आश्रय ग्रहण किया। अनेक पर्वतीय प्रदेशों मंसूरी-शिमला काश्मीर आदि की सैर की परन्तु मन को न जाने क्या हो गया था कि कहीं सुख ही नहीं मिलता था। बार बार यही विचार उत्पन्न होता था कि क्या इस रंगीले विश्व में, इस सुनहली प्रकृति में कहीं तृप्ति या संतोष है ही नहीं ? मन कहता था कि यह कैसे हो सकता है -

ऋषि मुनियों, संतजनों ने यहीं इसी विश्व में, इसी प्रकृति की गोद में अनुपम सुख, सन्तोष और तृप्ति का अनुभव किया है फिर मुझे ही वह क्यों नहीं प्राप्त होता। क्या ईश्वर ने इसीलिए विश्व का निर्माण किया है कि सब इसमें अतृप्त रहें ? नहीं ऐसा तो नहीं है - हे ईश्वर तुम्हारी ही नगरी में मुझे शान्ति नहीं ? परन्तु यह क्या मन इन विचारों की साक्षी नहीं देता वह चुपचाप बुद्धि की उलझन को देख रहा है - तब तो कोई अवश्य उपाय है - अवश्य कोई मार्ग है जिस पर चलकर चिरतृप्ति का आस्वादन किया जा सकता है।

सोच विचार कर ईश्वर के चरणों में अपने को डाल दिया। सहज-मार्ग पर पग आगे बढ़ने लगे। प्रारम्भ में तो लगा जैसे यहाँ भी निराशा ही हाथ लगेगी बुद्धि ने यही सलाह दी कि इस मार्ग के चक्कर में पड़ना व्यर्थ है यहाँ भी कुछ हाथ नहीं लगना परन्तु मन ने बुद्धि की सलाह पर ध्यान नहीं दिया। वह साधना में लगा रहा। धीरे धीरे पगों में स्थिरता आने लगी। एक ऐसे रस की प्राप्ति होने लगी जो अब तक कहीं नहीं मिला था। कुछ ही दिवसों में ऐसा लगने लगा कि चाहे विश्व में कहीं तृप्ति न हो परन्तु इस मार्ग में अवश्य है। यह कैसी तृप्ति है जिसमें अतृप्ति छिपी हुई है और अतृप्ति भी कैसी जो प्राणप्रिय है। मैं तो आश्चर्य चकित हो उठी कि यह कैसी अतृप्ति है जो मुझे अच्छी लगने लगी। अभी तक तो इसी अतृप्ति ने मुझे दर दर की ठोकरें खाने को विवश किया स्थान स्थान घूमने की प्रेरणा दी जिसमें शारीरिक और मानसिक शक्तियों

का कितना ह्रास हुआ किन्तु वही अतृप्ति मानों अब मेरे लिए संबल बन गई है – मेरे लिए सुखद हो गई है। यह अतृप्ति ऐसी नहीं है जो मन, बुद्धि को बेचैन कर दे, उसमें उदासीनता उत्पन्न करदे वरन् वह अतृप्ति तो मन, बुद्धि को तृप्ति का भोजन प्रदान करती है। कैसी उल्टी बात है कहाँ तो मन किसी वस्तु की प्राप्ति से सन्तुष्ट नहीं और कहाँ अब इस अतृप्ति को छोड़ने के लिए तत्पर नहीं। जैसे अब अतृप्ति ही जीवन होती जाती है। यही सुख की मूल है जो प्रियतम ईश्वर तक लेजाने में सहायक हो रही है। ज्यों २ पग आगे बढ़ते जाते हैं - अतृप्ति आगे का मार्ग प्रशस्त करती जाती है। प्रथम तो ईश्वर की शरण में आने की चाह, शरण मिलने पर 'उसको' मन में बसाने की चाह, मन में बसाने पर स्वयं 'उसमें' बसने की चाह; 'उसमें' बस जाने पर तादात्मय की चाह - मालूम नहीं इसके बाद भी जाने कितनी चाहें हैं जो मानव को आध्यात्मिकमार्ग की अनन्तता का परिचय देती हैं। सच पूछा जाए तो चैन यहां भी नहीं - भला चैन होते हुये भी मन बेचैन रहे तो उसकी क्या औषधि है? परन्तु यह अवश्य है कि विश्व में अतृप्त आत्माओं को शान्ति नहीं मिलती और इस क्षेत्र में अतृप्त आत्मायें ही सबसे अधिक सुखी रहती हैं – वे ही ईश्वर के अधिक निकट होती जाती हैं। उनकी तृप्ति कहां हो यह नहीं कहा जा सकता। मुझे तो जैसी तृप्ति आँख खुलने पर मिली थी उसी का लघु संस्करण पुनः प्राप्त हो रहा है और एकमात्र अतृप्ति ही उसका मूल कारण थी। धन्यवाद है इस अतृप्ति को जिसने मुझे इस पथ पर चलने को बाध्य किया और अब भी जो आगे बढ़ने को सतत् प्रेरणा देती है।

—

साधना पद्धति

(राजाराम वर्मा एम. ए.)

सहज मार्ग के सम्बन्ध में कभी कभी लोग भ्रम पूर्ण धारणा बना लेते हैं। इनमें अधिकाँश संख्या उन लोगों की होती है जो प्रत्येक प्रगतिशील व अभिनव प्रणाली का विरोध करते हैं। प्रत्येक देश व काल में इस प्रकार के रूढ़िवादियों की बहुतायत होती है। बुद्ध, ईसा, सुकरात तथा महात्मा गांधी के प्रगतिशील विचारों को तत्कालीन लोगों के द्वारा न समझे जाने के कारण ही इन महापुरुषों को प्राण दण्ड मिले। इसी प्रकार यदि लोग 'सहज मार्ग' की साधना पद्धति को समझने में भूल करें तो आश्चर्य क्या?

वास्तव में आध्यात्मिकता को लोग अत्यंत रहस्यमय एवं दुर्गम समझते हैं। उनके विचार से योग और आध्यात्मिकता साधारण एवं गार्हस्थ्य धर्म पालन करने वाले व्यक्ति के लिए गम्य नहीं होती। आध्यात्मिक उन्नति केवल उन व्यक्तियों के लिए सम्भव समझी जाती है जो परिवार का परित्याग करके जंगल का रास्ता लें और वहाँ असाधारण शारीरिक यातनाएं सहन करें। इस भ्रम पूर्ण धारणा ने सहस्रों जिज्ञासुओं को आध्यात्मिक विकास करने से रोका है। शताब्दियों से लोग ऐसी ही जटिल साधना पद्धतियों में विश्वास करते आए हैं, इसलिए सहज एवं स्वाभाविक साधना पद्धति में विश्वास करना कठिन होता है।

अधिकाँश लोग पूजा अर्चना सांसारिक यश व अर्थ लाभ

के उद्देश्य से करते हैं। हमारे देश में ऐसे स्वार्थी गुरु शिष्यों की कमी नहीं है अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए गुरु लोग आडम्बर पूर्ण एवं आकर्षक भव्य मंडल का सृजन करते हैं और स्वार्थ सिद्धि की कामना रखने वाले शिष्य इस भव्य मंडल में इस प्रकार फँस जाते हैं कि अपने जीवन का अमूल्य समय नष्ट कर देते हैं और अंत में पश्चाताप के सिवा कुछ भी हाथ नहीं लगता ऐसे पाखण्डी जन देश का बड़ा अकल्याण कर रहे हैं। श्रद्धेय समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज कोकोटिशः धन्यवाद, जिन्होंने सभी सर्व साधारण के लिए आध्यात्मिकता का मार्ग सुलभ कर दिया और जटिल एवं आडम्बर पूर्ण प्रणालियों से मुक्ति दिला दी।

'सहज मार्ग' प्राचीन राजयोग पर आधारित एक अत्यंत सरल, स्वाभाविक एवं प्राकृतिक साधना पद्धति है। सहज शब्द का अर्थ स्वाभाविक एवं प्राकृतिक है। कभी कभी लोग 'सहज' शब्द का अर्थ 'सरल' करते हैं, परन्तु ऐसा अर्थ ठीक नहीं है। प्राकृतिक एवं स्वाभाविक होने के कारण इसको सरल माना जा सकता है। कभी कभी साधक इस पद्धति को सरल समझकर नियमित रूप से साधना नहीं करते, जिसके फलस्वरूप उनकी प्रगति में बाधा पड़ती है। मेरे विचार से इस साधना पद्धति में भी नियमों का उतनी ही तत्परता से पालन करने की आवश्यकता है जितनी दूसरी पद्धतियों में। इस दृष्टि कोण से 'सहज मार्ग' सरल नहीं है। सरल तो केवल इस लिए है कि इसमें व्यर्थ की जटिलता एवं आडम्बर का अभाव है और साधक के अत्यंत मनोवैज्ञानिक ढंग पर गुरु की प्राणाहुति (Transmission) के सहारे अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का

पालन करता हुआ गंतव्य पर पहुँच जाता है 'सहज मार्ग' का अर्थ स्वाभाविक एवं प्राकृतिक (natural) न करके 'सरल' अर्थ करने में एक और भारी भूल होती है। अभ्यासी सरलता के भ्रम में पड़ कर बताए हुए ढंग पर नियमित रूप से अभ्यास नहीं करता है और कभी कभी गुरु द्वारा प्राणाहुति पाकर अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ बैठता है। मेरे विचार से गुरु पर सारा उत्तर दायित्व छोड़ना अनुचित है। ऐसी दशा में आध्यात्मिक प्रगति की आशा करना व्यर्थ है। गुरु का कार्य आँतरिक सफाई है और आगे बढ़ना साधक का काम है यदि साधक इसमें आलस्य करता है तो गुरु को व्यर्थ में कष्ट देता है। साधक का उत्तर दायित्व गुरु से अधिक है क्योंकि सारा कल्याण साधक का ही होता है।

'सहज मार्ग' की साधना पद्धति वर्तमान सभी साधना पद्धतियों से सरल एवं वैज्ञानिक है। शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति के लिए कई श्रेणियां बताई गई हैं, यम, नियम, प्राणयाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा समाधि इसके अनुसार साधक यम, नियम से प्रारम्भ करके समाधि की अंतिम सीढ़ी पर पहुँचता है। इसका मतलब यह है कि पहले हम यम, नियम के साँचे में अपने को ढाल लें फिर आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। परन्तु यह पद्धति मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोण से अस्वाभाविक है। जब मनुष्य यम, नियम के अनुसार अपने कुसंस्कारों व कुविचारों पर नियंत्रण करने के लिए सक्रिय मनन करता है तो कुसंस्कार व कुविचार नष्ट होने की अपेक्षा और अधिक शक्ति शाली हो जाते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हम जिन विचारों को दूर करने के लिए

बारम्बार विचार करते हैं तो वे विचार बारम्बार आते हैं और इस प्रकार शनैः शनैः सशक्त और पुष्ट होते जाते हैं। विचार - शक्ति (thought power) से कुविचारों को बारम्बार प्रज्वलित करने से कोई लाभ नहीं। यम्, नियम की सहायता से कुसंस्कारों पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। अनेकों वर्षों तक हठ पूर्वक इंद्रियों का निग्रह करने वाले हठ योगी साधारण प्रलोभन में पड़ कर भ्रष्ट होते देखे गये हैं। अतः 'सहज मार्ग इस प्रणाली को व्यर्थ समझता है। 'सहज मार्ग' साधना पद्धति में सीधे ध्यान से प्रारम्भ करते हैं। हृदय अथवा 'गुरु' को हम अपने ध्यान का केन्द्र बनाते हैं और तैल धारावत् उनका ध्यान करते हैं। अन्य विचार यदि आते हैं तो उनकी ओर हम ध्यान नहीं देते। गुरु महराज के शब्दों में हम उनको बिना निमंत्रित किए हुए अतिथि (un invited guest) के रूप में समझते हैं। ऐसा करने से अवाँछनीय विचारों को हमारी विचारशक्ति से बल नहीं मिल पाता और वह शनैः शनैः निर्बल होकर स्वयं आना बंद हो जाते हैं। साधक धीरे धीरे ईश्वरोन्मुख होता जाता है और अन्त में उस परम स्थिति (Higher Self) को प्राप्त कर लेता है कि निम्न स्थिति की वस्तुऐं (Lower Self) उसको आकर्षित नहीं कर पाती जैसे पर्वत की ऊँची चोटी पर खड़े हुए व्यक्ति को नीचे की सभी वस्तुऐं अत्यंत छोटी दिखाई पड़ती हैं।

'सहज मार्ग' साधना पद्धति की एक अपनी विशेषता जो अन्य प्रणालियों में नहीं पाई जाती यह है कि गुरु अपनी प्राणहुति शक्ति के द्वारा साधक की कठिनाइयों को दूर करता रहता है साधक

अबाध गति से अपने मार्ग पर बढ़ता चला जाता है यही कारण है कि इस साधना पद्धति के अनुसार संवेदन शील साधक इसी जीवन में अल्प काल में ही अपने कर्तव्य को प्राप्त कर लेते हैं जबकि शास्त्रों के कथनानुसार मनुष्य अनेकों जन्म जन्मान्तरों के पश्चात मुक्ति प्राप्त कर पाते हैं। गुरु महाराज ने इस अनुपम आध्यात्मिक अनुसंधान करके मानव जाति का कितना कल्याण किया है, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति चाहे किसी धर्म का मानने वाला हो, गृहस्थ हो अथवा सन्यासी आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच सकता है।

साधना के लिए सदाचार बहुत आवश्यक है। गुरु महाराज सदाचार पर बहुत जोर देते हैं। साधक को अपने नैतिक पक्ष पर निरंतर ध्यान रखना चाहिए। जीवन को जितना सरल व प्राकृतिक बनाया जाय, आध्यात्मिक विकास के लिए उतना ही अच्छा होगा। खान पान व रहन सहन सभी में स्वाभाविकता आवश्यक है। गुरु महाराज का आदेश है कि जीवन को इतना सादा बनाया जाय कि वह प्रकृति के साथ सामञ्जस्य (हम आहंगी) प्राप्त कर ले और देखने वाले को शक्ल से महात्मापन का बोध हो।

अतः वर्तमान परिस्थितियों में यह साधना पद्धति सर्वोत्तम है। इसके द्वारा मनुष्य अत्यन्त स्वाभाविक व प्राकृतिक ढंग से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है।

स्वास्थ्य के लिए

(ले० काशीराम अग्रवाल)

लोगों का अधिकतर ध्यान गलत रहन सहन तथा गलत खान, पहरान पर है। वह चाहते हैं रोगी भले बनें रहें, मगर जीभ का स्वाद बिगड़ने न पाये। अगर बीमार भी हो जायें तो ऐसी दवा मिलती रहे, न खाना छोड़ना पड़े न परहेज ही करना पड़े, केवल दवा मात्र से ठीक हो जायें, दवा भी ऐसी हो जो खाने में स्वादिष्ट हो, कड़वी न हो, देखने में भी आखों को अच्छी लगे, और खाते ही आराम भी हो जाय। अगर प्रातः काल टहलने को ही कह दिया जाय तो उत्तर मिलता है इतना समय कहाँ हैं, भले ही डाक्टरों के दरवाजों पर घन्टों बैठा रहना पड़े। किसी को बुखार हो जाने पर अगर यह कह दिया जाय कि एक दो दिन खाना न खाओ ठीक हो जाओगे तो मानों इन शब्दों ने फाँसी का हुक्म सुना दिया बजाय १०१ डीगरी के १०५ डीगरी खाना छोड़ने के नाम से बुखार हो गया। अगर उपवास कहने सुनने से कर भी लिया तो चेहरा शीशे में देखकर स्वयं ही कहने लगते हैं मैं बहुत कमजोर हो गया, सुबह खाना नहीं खाया था शाम को रबड़ी रसगुल्ला बर्फी खूब पेट भर खा ली और हो गया उपवास। एक रोगी परेशान हालत में अपना उपचार पूछने आया उसे टीमाटर, गाजर, मूली, अमरूद, गन्ने आदि सुबह नाश्ते में खाने को बतलाये, तुरन्त घबराकर कहने लगा यह तो सब ठंडी चीजें हैं, मुझे नमूनिया हो जायेगा ठंड लग जायगी, जाड़ों के दिन हैं, वैसे ही ठंड लगने का डर बना रहता है।

अफसोस है वह बेचारे नहीं जानते कि प्रकृति कभी मनुष्य की तरह भूल नहीं करती। प्रकृति ने जाड़ों में ही टीमाटर गाजर, मूली संतरे गन्ना आदि सब ठंडी चीजें मनुष्य के लिये उत्पन्न की हैं, और जब खूब गर्मी आ जाती है तब प्रकृति हमारे लिए गर्मतर चीजें पैदा करती है, जैसे पपीता, आम, खरबूजा आदि। यहाँ मनुष्य अपनी अकल को तोड़ मरोड़ कर रख देता है अन्यथा अकल से काम लेने पर वह इतनी बड़ी गलती न कर प्रकृति के नियमों का पालन अवश्य ही करता, दूसरे प्रकृति पर मनुष्य का जोर भी नहीं चलता अन्यथा वह खेतों में बजाय टीमाटर के अफीम के गोले पैदा करता या बनी बनाई गर्म गर्म चाट समोसे आदि पेड़ों में लटकने लगते। अगर आप से कह दिया जाता है, फल हरी तरकारी अधिक खाइये तो उत्तर मिलता है यह तो बड़े आदमी ही खा सकते हैं ऐसे कहने वाला एक गरीब भाई को मैंने स्वयं देखा, वह खाना घर से खाकर आया और बाजार में खड़ा २ बारह आने की चाट खा गया, और चाट वाले से कहता है जरा चटपटी और कर देना, मजा नहीं आया, ले यह चार आने, अबकी पत्ता मजेदार बनाकर दे। अब आप सोचें उस चाट वाले के बराबर में ही दूध दही वाले की दुकान भी थी और दो चार कदम आगे बढ़ने पर संतरे, टीमाटर, गाजर, अमरूद खजूर आदि बिक रहे थे, एक रुपये की चाट खा गये मगर महंगी बताने वाली गाजर दो आने सेर वाली न खाई गई, या एक रुपया सेर खजूर पाव भर भी खा लेते तो चार आने में ही पेट भर जाता और स्वास्थ्य के लिए लाभदायक भी होते अमरूद आध सेर भी

खा लेते तो केवल दो आने के होते और लाभ भी होता, चाट ने केवल नुकसान के सिवा कौन सा लाभ पहुँचाया, या कौन सी ऐसी पुस्तक आप मुझे दिखा सकेंगे जिसमें चाट मिठाई आदि की तारीफ लिखी हो, सिवाय जीभ के स्वाद और रोगों को पैसे देकर खरीदने के अतिरिक्त क्या लाभ हो सकता है। अब आप डाक्टर साहब के पास जाकर कहते हैं डाक्टर साहब कब्ज रहता है अभी तो आप पैसे देकर कब्ज आदि बीमारियाँ मोल लाये हैं अब उसको दूर करने के लिए डाक्टर साहब को भी कुछ देना पड़ा, तो कितनी महंगी पड़ी यह चाट ! अब कब्ज तो चाट वालों से खरीदा और दवा डाक्टर के पास खोजते हैं अगर उस बेचारी कब्ज जिसको तोड़ मरोड़ कर दबोच दिया है काम में लें तो बतलाती है आप हरी तरकारियाँ फल सब्जी जो प्रकृति जिस मौसम में जो देती है उसका प्रयोग करें हम प्रयोग नहीं करते, अगर करते भी हैं तो खूब मिर्च मसाले आदि डालकर उसे तल भून कर स्वादिष्ट बनाकर उसे स्तेमाल करते हैं, भले ही वस्तु में गुण न रहे मगर जीभ का स्वाद अवश्य होना चाहिये कब्ज भले रहने लगे मगर स्वाद बिगड़ने न पाये यही कारण है कि आज रोगों की भरमार है लोगों का ध्यान दवाओं पर तुरन्त जरा जरा सी बातों पर जाता है और यहाँ तक मनुष्य का ज्ञान बढ़ गया है कि रोगी स्वयं डाक्टर साहब से कहता मुझे दो लाख पावर का पेंसलीन का इन्जेक्शन लगा दीजिए। मगर प्रकृति की देन पर यह भी ज्ञान नहीं कि हम जिन चीजों को (फल हरी तरकारियों) ठुकरा बैठे हैं वह हमारी सबसे बड़ी दवा है। प्रकृति के नियमों का पालन करने का नाम ही प्रा०

चिकित्सा है और इस नाम से अधिकतर लोग डरते हैं वह समझते हैं मेरी जीभ का आनन्द छिन जायेगा कमजोर हो जायेंगे मगर वह यह नहीं समझते कि सच्चा स्वास्थ्य अगर प्राप्त हो सकता है तो प्रकृति के नियमों का पालन करते रहने से ही हो सकता है। अन्यथा रोग और कोई नई बला नहीं है, प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने का नतीजा रोग है। भले डाक्टर स्वार्थवश इस शब्द को मानने को तैयार न हों मगर हृदय की आवाज उन की भी यही होगी कि रोग के लिये दवा की नहीं प्राकृतिक नियमों के पालन करने की आवश्यकता है। अब मैं दवाओं पर विख्यात डाक्टरों के अभिमत नीचे लिख कर लेख को समाप्त करता हूँ इन अभिमतों से स्वयं ही आपको सोचने का मौका मिलेगा।

(१) सर फ्रेडरिक टीव्ज, एम० डी०, एफ० आर० सी० एस०, के० सी० बी० ओ०, सी० वी०, सप्तम एडवर्ड के और लंदन के अस्पताल के कन्सल्टिंग सर्जन और सर्जरी के प्रोफेसर- मैं एक ऐसे युग की बाट देख रहा हूं कि जब लोग बीमार पड़ने पर दवा लेने की बेढंगी आदत छोड़ देंगे।

(२) एस्टली कपूरः- एलोपैथी अटकल पच्चू शास्त्र है।

(३) डा० बेकरः- ज्वर से मरने वालों की अपेक्षा ज्वर की दवा से मरने वालों की तादाद कहीं ज्यादा होगी।

(४) डा० फाजवेलेः- डाक्टरी दुनियाँ से उठ जाय तो मनुष्य जाति का अकथनीय लाभ होगा।

(५) डा० मेसन गुड:- लड़ाई महामारी और अकाल से मरने वालों की अपेक्षा कहीं अधिक दवाइयों की भेंट चढ़ते हैं

(६) महात्मा गाँधी:- रोग का उपचार करना तो ठीक है, लेकिन उसकेलिए दवालेना व्यर्थ है, उल्टे उससे बहुतबार हानि होती है

(७) इंगलैंड के नामी पादरी सी० कालटन:- दवा लेने का अर्थ है कि एक और नई बीमारी पल्ले बाँधना या पुरानी को दबाना।

(८) डा० मजेंदी:- यह कहीं अच्छा होगा कि हम कुछ भी न करके रोग को प्रकृति के भरोसे छोड़ दें।

(९) वर्तमान एलोपैथी के जन्मदाता हिपोक्रेट:- प्रकृति रोग मिटाती है डाक्टर नहीं।

(१०) अंग्रेज चिकित्सक डा० फर्थ:- खाने पीने या लगाने की हर प्रकार की दवाइयाँ दुखियों के दुख को केवल बढ़ाती हैं।

—०⌒०—

बन्दे करि ले हरि से प्यार।

बन्दे करि ले हरि से प्यार।
झूठी काया झूठी माया और झूठा संसार।
यह सब दम के साथ हैं तेरे करि ले सोच विचार॥
करि ले हरि से प्यार॥
पचरंग महल के भीतर जाके करि ले बन्द द्वार।
पाइ अकेले दर्शन दीहैं सतगुरु बारमबार॥
करि ले हरि से प्यार॥
काम करत नहीं मल के ऊपर तेज ध्यान की धार।
दाग छूटि हैं गुरु चरनन मा कहत हरीश पुकार॥
करि ले हरि से प्यार॥
हरिशचन्द्र शाहाबादी

प्राणाहुति और सहजमार्ग

(श्री आयल रेड्डी, सेडम् गुलबर्गा)

इस सृष्टि के अखिल चराचरों में निहित गूढ़ रहस्यों को समझने या सुलझाने के प्रयत्न में मानव को ही समर्थ और योग्य माना गया है। इस विषय में किसी का भिन्न मत नहीं है, इसीलिये तो हमारे ऋषि-मुनि तथा दृष्टाओं का कहना है कि मानव जन्म दुर्लभ है। इसमें संदेह नहीं कि इस दुर्लभ मानव जन्म की सार्थकता परम पद प्राप्ति यानी आत्म साक्षात्कार ही है।

जब मानव जीवन की सार्थकता आत्मसाक्षात्कार ही है तो मार्ग-दर्शक यानी सद्गुरु की कृपा आवश्यक हो जाती है। अब सद्गुरु क्या है ? उनके लक्षण क्या हैं ? आदि के बारे में व्यर्थ की चर्चा करना मेरा उद्देश्य नहीं है, अपितु मेरा मतलब है कि जो साधक हैं या जीवन सार्थकता के इच्छुक हैं मैं उन्हें समर्थ सद्गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज के सहज मार्ग का दर्शन (अपनी अनुभूति के अनुसार) करा दूँ जो अहेतुकी कृपा से ओत-प्रोत हैं। जो जिज्ञासु हैं या योग मार्ग को अपनाना चाहते हैं उन्हें यह बात स्पष्टत: मालूम हो जायगी कि अनेक स्थलों पर वर्णित गुरु-महिमा या कृपा यहाँ कैसे सहज रीति से वितरण की जाती है। जो अपने सौभाग्य को परम सौभाग्य में बदलना चाहते हैं उनके लिये सहज मार्ग के अधिष्ठाता ही एक मात्र कृपासिंधु हैं।

सहजमार्ग में योगाभ्यासी के लिए प्राणाहुति दी जाती है। अत: हम यह देखें कि प्राणाहुति कितने तरीके पर होती है अथवा

उसके कितने अंग हैं। अनुभवकर्त्ताओं का कहना है कि चार तरीके से शिष्य में प्राणहुति दी जाती है— दृष्टि, स्पर्श, शब्द तथा इच्छा से। जैसे—

विद्धि स्थूलं, सूक्ष्मं, सूक्ष्मतरं, सूक्ष्यतममपि क्रमतः।
स्पर्शन्, भाषण, दर्शन, संकल्पनजत्वतश्चतुर्था तम्॥

ये स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम हैं। इनके अनुसार सहज मार्ग में सूक्ष्मतम प्राणाहुति से कार्य लिया जाता है। अनुभव ही इस बात की कसौटी है। यह इसलिये लिखा गया है ताकि दूसरे साधक बंधुओं का अनुमान खुलासा हो। इसके अलावा अन्य जो भी इस साधन-पथ में आना चाहता हो या आजमाना चाहता हो तो अनुभव करके देख सकता है कि कैसे समर्थ सद्गुरु जी की कृपा साधक में परिवर्तन कर देती है।

कुलार्णव तंत्र में भी तीन प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन आता है। जैसे कि—स्पर्शदीक्षा, दृग्दीक्षा, ध्यान दीक्षा।

स्पर्श दीक्षा—यथा पक्षि स्वपक्षायाँ शिशून् संवर्धमेच्छनैः।
स्पर्शदीक्षोपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये॥

दृग्दीक्षा— स्वापत्यानी यथा कुर्मी वीक्षणेनैव पोषयेत्।
दृग्दीक्षाख्योपदेशस्तु तादृश कथितः प्रिये॥

ध्यानदीक्षा— यथा मत्सी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेधदीक्षोपदेशस्तु मनसः स्यात्तथाविधि॥

लेकिन बहुत से लोगों का कहना है कि अष्टाँग योग के बिना योग ही नहीं है। अतः क्रम से साधन और नियमों का पालन

करना जरूरी है। किन्तु मेरा दृढ़ अनुभव है कि यह भी जरूरी नहीं है कि साधक इन क्रमों से ही आगे बढ़ें।

हमारे सहज-मार्ग में तो ध्यान से ही साधन शुरू होता है और अष्टाँग योग की पहले की सभी बातें खुद व खुद ही जो साक्षात्कार के लिये जरूरी हैं आ जाती हैं। गुरु कृपा से साधक दिन व दिन प्रगति पथ पर ही चलता रहता है। चूँकि कृपा ऊपर से उतरती रहती है अतः वह शक्ति साधक के अंदर जो भी अनावश्यक तत्व हैं उन्हें निकाल देती है और जो साधक के लिये आवश्यक है उसे पूरा कर देती है। सद्गुरु की कृपा से चक्र आदि भी स्वयमेव खुलते जाते हैं।

इस तरह होने वाली योगिक क्रियाओं से साधक को कोई कष्ट नहीं होता और न किसी अनिष्ट का ही भय होता है क्योंकि प्रबुद्ध शक्ति स्वयं ही यह सब क्रियायें साधक से उसकी प्रकृति के अनुरूप करवा लिया करती है। अन्यथा हठयोग के साधन में जरा सी भी त्रुटि होने से बहुत बड़ी हानि होने का भय रहता है। जैसा कि 'हठ योग प्रदीपका' में कहा गया है— "आयुक्ताऽभ्यास योगेन सर्व रोग समुद्भव" यह कहकर चेतावनी दी है।

परन्तु प्राणाहुति से प्रबुध होने वाली शक्ति के द्वारा साधक में जो क्रियायें होती हैं। उनसे शरीर रोग रहित हो जाता है। बड़े बड़े असाध्य रोग भी भस्म हो जाते हैं। इनसे गृहस्थ साधक बहुत लाभ उठा सकते हैं। अन्य साधनों के अभ्यास में तो भविष्य में मिलने वाले सुख की अपेक्षा पहले कष्ट ही कष्ट उठाना पड़ते हैं परन्तु

इस साधन में आरम्भ से ही सुख की अनुभूति होने लगती है। शक्ति का जागना जहाँ एक बार हुआ वहाँ फिर वह शक्ति स्वयं ही साधक को उस परम पद प्राप्ति कराने तक नहीं रुकती। शक्ति यहाँ पर जो कुछ भी करना चाहती है, करती है; साधक इसके विरुद्ध हरगिज नहीं जा सकता, उसके अधीन ही रहता है और उसी में संतुष्ट रहता है। शक्ति कहीं भी उसकी हानि न कर कल्याण ही कल्याण करती रहती है।

हमारे सहज-मार्ग में सूक्ष्मतम संकल्प से प्राणाहुति हमारे समर्थ सद्गुरु महाराज देते हैं। उनकी कृपा के अधीन जो हैं वे उनके सद्उद्देश्य को बढ़ाने की खातिर ट्रेनर या प्रिसेप्टर नाम से काम करते हैं। वे भी प्राणाहुति द्वारा साधक-बन्धुओं के साधन पथ में सहायक बनते हैं।

योगाभ्यास करने वालों के लिये इस काल में प्राणाहुति से सुगम साधन अन्य कोई भी नहीं है। प्रथम तो शक्ति सम्पन्न सद्गुरु मिलते ही नहीं। अगर मिलते हैं तो शिष्य मुक्ति पाते है इसमें कोई संदेह नहीं। सौभाग्य से हमारे सद्गुरु समर्थ श्री रामचन्द्र जी महाराज अपनी यौगिक शक्ति से तमाम साधक बंधुओं को ऊपर उठा रहे हैं। हमारा कर्त्तव्य केवल गुरु की कृपा याचना ही है जो भक्ति तथा प्रेम से प्राप्त हो सकती है। मेरे अनुभव के अनुसार भक्ति तथा प्रेम भी गुरु ही देते हैं या यों समझिये कि वे ही मन में भक्ति और प्रेम पैदा कर देते हैं शिष्य परिवर्तित होते-होते कदम व कदम आगे बढ़ता है। यह हमारा सौभाग्य नहीं तो और क्या है ?

Necessity of a Guide.

(Shri Ram Chandra Ji President)

God has created innumerable worlds and has linked them all together by a common force know as gravitation. Being thus linked together they are all connected with a greater world which serves as a cause, but which in its turn has come down from its own upadan cause. Thereby I mean to refer to that greater universe where every thing comes into existence in the astral form (having at the same time its connection with the original source). The point of origin of the man is also the same. In other words all powers and things in existence there, were included in the being of man. The man is thus a conglomeration of all things in exitence. Consequently he possesses immense power, so much so that he can at will even shatter any of the worlds in existence. Every particle of his being is connected with one particular world. When a man establishes his connection with the original source he acquires command over all these powers. Every point or sub-point related with the various chakras in a man controls a particular world related with it and gives

power to it: The smaller world connected with the various sub-point of the chakras also serve as stops or checks in ~~over~~ our onwards march. We proceed from point to point, We go to a next point only after crossing the interveing space (or the world as it may be called). This intervening world can be crossed over only when one has completed the Bhoga of the place. The same is the case at each point. The whole process thus takes a considerable time, which can be shortened only when some greater power or a superior force comes up for his help to divert the force of gravitation towords it. The force that keeps up the existance is a material force where as that which exists in a man is a spiritual force free from materiality, the more it is free from materiality, the more powerful and effective it is.

Now how can it be utilised for our purpose is the next point for consideration. It can be set to work when a close connection with the superior force has been established. This may in other words be interpreted as attachment or love. The things is now clear and we finally come to the conclusion that the impediments that stand in our way can be removed

when one develops attachment with that great power which is capable of tearing off all veils. But while crossing over to the next point it is also necessary that one must have a thorough round through the entire space inorder to complete its Bhoga, without which no ascent can ever be possible. If one tries to attempt it by self effort alone he is hopelessly caught within its intricacies and remains held up for ever. There may however be exceptions but that is very rare unless one is specially gifted with the extra-ordinary calibre and is favoured by the Divine Grace. Now whose power can it be that can take us along safely through all those intricacies. Definitely it must be of one who has established an irrevocable connection with the original Source. Shall it not therefore be necessary to go upto him for the purpose. Surely so. Now whether you call him as your master or as your servant, he is after all your teacher and guide or in the popular sense of the word a guru, no matter in what capacity you take him to your view.

The intervening spaces between points or sub-points commonly known as buffers are in fact innumerable. They are all to be passed through during the course, in order to com-

plete the Bhoga of the conditions at each of them. With the help of a worthy Master of calibre the process of Bhoga is considerably reduced and the Abhyasi's stay at these places is much shortened, saving thereby a good deal of his time and energy. It may however seem to be something strange and unnatural, how Bhoga becomes ineffective in case of the Guru's support. The fact is that the effect of the conditions at the place where the abhyasi is staying, entraps him all over forming a net-work round him. Unless it is completely shattered, the higher ascent is quite out of question. If he attempts it by self effort, he might at times advance a little, but only to slip down again. Practical observations clearly shows that most of the sages could never have crosssd these buffers except perhaps a few elementary ones. They remained lingering in them for ever without finding a way out. The only reason for that could be the lack of proper strength and calibre on the part of their guru to clear it for them by his own extraordinary powers. Those who depended upon self efforts, generally remained held up at the very first or the second stage. Now how is it that the necessity of Bhoga

does not arise when a worthy master is at our back. The fact is that Bhoga in the real sense does not only imply a sense of undergoing the effects of our wrong doings, but that one has to undo the effect of the network he has been entraped in. Only when he is free from that effect, he can be able to cross over to the next higher point and that can be possible only with the help of a worthy master.

The purpose for which I have taken up this point for clarification is that some persons are under the wrong impression that it is quite possible for one to conduct one's spiritual training himself. That may however be possible to a certain limited extent only and that too when he is gifted with special capabilities to enable him to overcome the buffers by his self efforts. But that may be rare, very rare indeed. The only solution shall therefore be to seek for the help of one of his own fellow beings who is really capable of it. But then it becomes essential to create in one's self a state which might be able to attract the master's attention, tending towards his spiritual uplift. For that love and devotion is the only means and an essential factor too, in all cases. Therefore love and devotion for one who is capable of moulding your destinies is an absolute necessity.

Emotional Integration of India

(Sri S. C. Srivastava M. A)

(Continued from the previous)

What was the secret of Gandhiji's success? It was his sense of religion. The prayer meeting was the best place to propagate his views. It was the best place to satisfy sceptical people and hypnotise the credulous. It was his press conference, it was his public platform. He used religion towards emancipation of country, towards betterment of economic conditions, towards general improvement in society. With a wonderful organising capacity he remained a prophet of peace as well as of revolutions.

But the enthusiasm which he had engendered in his countrymen through religion, underwent a seachange with the formation of Pakistan. People were shocked to find how religion can easily be given a twist to degenerate into fanaticism and bigotry. And so the leaders of free India switched over to a secular state to keep busy with problems of political economic and social nature only.

They did not think that the temperament of a religious Hindu is different from

that of other religions. A Hindu is a philosopher and pacifist by nature. Even in the thick of a battle he would never lose conscience of the fact that he is doing all this ignominous work under compulsion and also that this action will have its repercussions in times to come. The leaders of today in their apathy towards religion, have tried to interpret the whole existence in terms of loaves and fishes. Thus they are trying to uproot the race from its ages-old conceptions of life and reality. These leaders have made us deaf to the inner urge and blind to our ancient ideals. They are instead, filling us with dreams and visions and we are running a mad race of existence, flying upon one another's throats if our interests are but slightly touched. When such glasses are applied to our eyes, how can we, be expected to view things in proper perspective and colour. When self-interest has been the gospel of our life from the childhood how can we, the children of new India, be expected to sacrifice everything for the motherland. We would rather try to feather our own nests unconcerned with what happens to others and also we would not hesitate to organise ourselves in sects which may ensure our self-interests.

The politicians of today have lost moral courage to persuade masses of the country simply owing to their dual standard of conduct. In the Conferences they would try to show a desire to be united but outside they simply give phillip to tendencies that may widen the gulf created by them. It is the leaders who require emotional integration more than the common man. He is already emotionally integrated with the soil of this Holy Land —this land which is perpetually watered by Sindhu, Ganga, Brahamputra and Kaveri. He can never be ready, unless compelled by the politicians, to think Himalayas as part of another country and Indian Ocean that of another. The leaders have to think of it. They should bring forth those links of unity which have withstood the wear and tear of time. It is the time to sing of love and Harmony and not of hatred and discord. The true sense of religion alone can be the unifying factor of our country. The political history of our country has been a story of discord, downfall and death. It is only the history of the religions of India which will bring into prominence the heroic spirit with which this great nation of ours has braved wave after wave of foreign invasions and has ultimately emerged with a head which might be bloody but is still unbowed. —

A Critic of Concentration.

(Sri Raghavendra Rao, B.Sc.B.E.M.I.S.E.,
Bellary, South India)

Perfection, eternal bliss, complete freedom from misery, everlasting peace etc. are the noble aspirations of the human heart. Many philosophies, many ways of thinking and living and religious, social and political systems are the outcome of such aspirations. Yet the ideal appears to have remained unattained and unattainable. The things against which humanity is struggling hard appear to grow stronger and stronger with each struggle.

If one thinks deeply about the root cause of all this he will come to the inevitable conclusion that the power of thought itself plays the main part in shaping the things. Hence it is necessary to study the process of thought in a practical way so that it may no longer shape the things undesirably. The concentrated power of thought, if unwisely directed, creates materiality and solidity hence to avoid that effect we should be very particular in this respect. The so called "Sadhakas may protest against this statement. Because they have been constantly told to practise concentration and they have been hypnotised by the charm of concentration. But in fact the concentration itself having

Some people practise concentration in a mechanical way upon gross and sclid objects. This is the worst form of mental degeneration and spiritual degradation. It is not at all spirituality. In such practices the main object is to gain some material or hypnotic power. The idea of God as the Subtlest Being, the Original Source or the Ultimate Absolute never crosses the minds of such persons. They spoil their own internal condition beyond any hope of repair. Those indulging in such practices can easilybe recognised by their dullheadedness obstinateness and the attitude of refusal and non-cooperation with every subtle, spiritual or Divine power. They create so much darkness in themselves that they become immune to divine touch. Their condition is akin to that of the drug-addicts.

Now,it is the duty of the intelligent person to understand correctly the real significance of the aspirations of the human heart, think deeply and find out for himself the right path leading to the cherished goal, and realise the ideal either with the help of one who has realised or directly if he can. This alone is the purpose of life and one should be brave enough to face this challenge. Otherwise his manhood may be yet another waste in this gigantic workshop of Nature.

The Sahajata of Sahaj Marga*

(S. P. Srivastava)

Revered Master, respected and dear brethren,

This Basant Panchami day is a day of rememberance and homage to the AdiGuru of the Sahaja Marga system of Sadhana. Moreover as most of us did not come into contact with him during the period of his physical existence, this day to us is a day of dedication to the sacred cause of his existence in the physical or even ethereal form. This sacred cause exists in embodied form in our midst in the shape of the founder of the Sahaj Marga system of Sadhana. This Basant Panchami day, therefore, for us who gather here year after year is above anything else a day of bringing ourselvs closer to the symbol and source of all divine light, left among us by the AdiGuru. The homage to the memory of the great personality, whose birthday we celebrate to day, will have been amply paid by everybody who happens to take a firm vow on this day to start discovering oneself in the light being shed everywhere by the

*A talk delivered on the occasion of the annual function, 1962

embodied source and symbol of that light in our midst-of course, with his own benign grace, which is continuously overflowing all around. The need is only to take a turn to wards its flow and open oneself to receive it, as one may.

This dependence on grace–a hackneyed phrase being repeated parrot–like by every lover of idleness-raises a pertinent problem as to whether the word 'Sahaj' is to be understood to mean 'easy'. It is very often suggested that the Sahaj Marga system of Sadhana is very easy due to the technique of transmission, which is the responsibility on the part of the master, the abhyasi having nothing to do except sitting with closed eyes before the master at his bidding now and then. Such a notion on many occasions finds an expression in the form of charges against the master that he has not been able to remove a particular defect of a particular abhyasi. Sahaja Marga System of Sadhana is not at all easy in this sense. The question of grace or kripa is essentially connected to the question of kripadhikar or capability of inviting the descent of grace. Absolute surrender to the

Master no doubt is the sure way to put every responsibility on the master. But is absolute surrender something easy ? Many of the greatest masters in the history of Adhyatmik Sadhana and Brahma-Vidya have not been able to find a single disciple who might have absolutely surrendered to them intheir life time, and consequentty they are said to have waited for centuries to transfer the burden of their spiritual powers to a really deserving one. The ideal of the young kitten–spoken of as Marjara Nyaya in the technical terminology of Vaishnavism-is the most difficult to achieve. The subtle forms of the power–madness of Jivas make it near–impossible for them to be absolutely helpless. And if some body has been able to achieve the ideal in his or her personality, there remains no occasion in the case of such a person for complaining against the master, even if all the conceivable vices and miseries may find an abode in the being of such a person. It will not be out of point to narrate what I have heard from my master Shri Babu Ji about his master, the samartha Guru. The grand master whose birthday we celebrate today was suffering from his last fatal illness probably cancer of the lung. In

extreme agony he would start singing some Bhajan at the top of his voice explaining, "If shricks have to come let them come in the form of the rememberance of my lord." Some body one day asked him "Revered Sir, you can cure the diseases of others with a twinkle of your eye. Why are you unable to cure your own miserable condition ?" The reply came sharp. "It is just theinability of casting away what my Beloved has given me." This just presents a glimpse of the ideal of the helplessness of the kitten. The responsibility absolutely falls on the master in case of only that person whose mind has never, and can never be crossed over by the idea of placing any responsibility on the master. Thus the easiness of Sahaj Marga is only for the bravest of hearts and not for cowards or idlers. And even this bravery of the heart is to be accepted as a gift from the Master, rather than a support for ones own ego in any way. Thus, taking the word 'Sahaj' in the sese of 'easy' is an over-simplification.

Then we may pass on to an overcomplication of the meaning of the word 'Sahaj.' The word consists of three letters 'Sa.' 'Ha

and 'Ja'. The suffix 'Ja' connotes 'being born' as in many words e.g. 'Jalaja' meaning 'born of water', 'Agraja' meaning elder brother i.e. one 'born before' etc. The letter 'Sa' stands for 'That' or 'He', while the letter 'Ha' signifies the 'Prarashakti' or 'Jiva' according to the dictionery meaning in sanskrit language. The word 'Sahaj', therefore, is to be taken tomean 'born of the difference between He or Brahman and I or Jiva'. Thus 'Sahaj Marga' is the path created by the differentiation between the ultimate total Reality and the individual being of the self. This path came into existence as a result of the descent of the Jiva or I from its eternal abode, the Brahman or the Lord; and a return journey along the same path is bound to lead to the realization of the ultimate goal of human life. This path has been discovered and described time and agin in the history of the Sadhana aspect of Indian philosophy. The word 'Sahaj' itself has been used several times for the paths in the course of the history of 'Adhyatmik Culture' in our country. But the earlier forms of the 'Sahaj Sadhana' came to be disfigured and degenerated due to various factors. Consequently there have been repeated attempts to refine the degenerated by the bold-

est of the masters of real approach to Reality like Lord Krishna, Lord Buddha, Saint Kabir, Swami Viveka Nand and our revered masters of the present form of 'Sahaj' way to Reality. One thing that has to be guarded against over and above anything else is the over complication of the simple. That is, the lesson of history so far as the question under reference is concerned.

So we may avoid the over simplification and the over-complication as regards the meaning of the word 'Sahaj' — although both of the meanings discussed thus far, are essentially correct and contain very valuable suggestions for the technique and purpose of Sadhana in general and our Sadhana in particular we may take another meaning which satisfies directly our demand of practical guidance as regards Abhyas and Sadhana. The word 'Sahaj' means 'natural' or 'Swabhavik'. For scholastic purpose, the etymological analysis of the word 'Sahaj' also leads to this interpretations — viz. 'Saha' means 'alongwith' and 'Ja' means 'born.' The word as a whole means 'born alongwith one's own being' or 'what is natural for oneself'. According to this meaning Sahaj Marga prescribes a life in harmony with nature for

the Abhyasi. Nature has intended a balanced life for us. We disturb the balance by our own undue attachments and aversions to this thing or that. Even anger and sensuous pleasure is quite alright at its own proper place. But apart from and beyond its proper place it is undue and binding. Shri Babu Ji has emphasised in his writing' and conversations that the hightest purpose of all Sadhana is to make man truely human. Of course the truely human is not what we think the actual man to be at a certain stage of his development, but rather the ideal man with all the potentialities placed in him by Nature come to fullest bloom – in other words what the Nature has intended him to be. This is what Aristotle has expressed in those beautiful sentences–"virtue is the mean between two extremes" and "The mean from another point of view is an extreme.' The Gita too lays down the ideal as—

युक्ताहार विहारस्य युक्त कर्मस्य चेष्टसु
युक्तस्वप्नाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा ।

This 'mean' that is an extreme' or the 'yukta Jiwan' or 'yoga' again comes in the real sense as a result of the vision of the Higher or the Real. But so long as it does not develop in the real form, the closest possible

imitation of the condition is to be attempted.

The codition of a perfected man living in complete harmony with nature may be classified with a classical example with a slight change in the classical interpretation of the same It is said of saint Kabir that some persons came to meet him, when he had gone to participate in a funeral ceremony. His disciples directed the visitors to the cremation ground, as they wished to meet the master immediately. They, however were unacquainted to him, and asked as to how they would recognize him. Thereupon the disciples of Kabir told them, that at the cremation ground the condition of all persons present would be similar, but on the way back from this place, one fellow would be different from all the rest – this fellow was to be recognised as saint Kabir. This is quoted as a classical example of the difference between real 'Vairagya' and what is known as Smashan Vairagya. But with due apologies to the classical tradition I propose to use it as an illustration of the harmonious adjustment to the demands of Nature. I remember our master Shri Babu Ji having told as well as written that the perfect man is not one who does not feel grieved at the death of a dear one, but one whose grief does not persist beyond the limit required by Nature.

And so also with everything bestowed by Nature on man The loss of the ability to feel the various tastes on the tongue is pathological, the real perfection consists in remaining unattached to the tastes inspite of feeling all of them on the toungue. It is not the 'Vedana' but 'Trishna' that causes bondage. The man who remains unaffected by and insensitive to the surrenndings is not truely human, what to talk of the superhuman. Super humanity consists not in knilling the human, but in transcending it. Transcending means a plus or something more, not a minus or someless. Really speaking this transcending business is again to be left to the Nature and the master. The puny efforts of man should be directed to the realisation of humanity. It really is funny to talk of the top before having scaled the trunk. It is really here that the dependence on 'Kripa' is of real use to the aspirant.

With these words I join all my sisters and brothers in paying homage to the memory of the great master of mankind whose blessings have been made available to us and all posterity in the form of this natural way to the realization of the highest purpose of human life by his great disciple, our revered master, father, mother, brother, friend, knowledge, purpose, God, Lord and

every thing. May he live long to see the message of his master carried to and spread in every nook and corner of the world by his beloved spiritual progeny. May the message of the masters alongwith their names be eternalized till the sun and the moon shine, till the creation might last, till the need of this message for man or his successors may persist.

A Thought

People undertake things for the sake of some joy which they expect thereby. Some similar joy or charm attracts them towards the Divine. There is thus the charm of warship, the charm of Bhakti, or devotion, the charm of asceticism and even the charm of peace and bliss. They exert themselves only for the sake of the charm and not for the real thing. But so long as it is for the sake of charm it is but an enjoyment, hence only a recreation, quite away from the real pursuit, which is originally charmless. In fact in realisation there is no charm at all no enjoyment, not even the consciousness of peace, bliss or realisation it self. It is a static state, unchanging and unbroken.

—Master

My Master of This World & Beyond. (I).

(By Ram Chandra Saksena)

It was a fine summer day in the year one thousand nine hundred and thirty two when I, then a small boy who had seen only twelve summers till then, woke up to the chime of the wall clock fixed up on the wall opposite to my bed in the bed room which was commonly shared by we two brothers, a small sister and our parents. There was nothing un-usual in waking up like this that day, as it had become practically a routine due to our morniug school during those summer days. But then, something in the air seemed a little un-usual, a little festive. We sensed it. Still I could not fathom any reasons for this extra senstivity. However, I alone with my younger brother Laxman got up from the bed and went down stairs for our early morning duties as was our wont each day. Reaching down-stairs, we came to understand the real reason of our sensing somethiug festive in the air, while we were still lying on our bed. What a joy, what happiness ? We saw to our great pleasure that in the kitchen, a big activity was going on. Some arrangement of a big

feast was there. A big pan was on a temporarily built furnance full of yellow pudding, being prepared. Its very fine smell filled in our nostrils as we approached near. Mother was in over-all charge of the work and to our curious enquiries, she told me that some big personality Guru of my father and uncle was coming that day for stay at our place for a few days to receive whom, both of them had gone to Railway Station. In honour of his arrival, we had been allowed to stay at home and thus were given freedom from the drudgery and monotony of attending to school studies that day. Now, we were really happy and in this moment of my pleasure which was double-fold-one of having opportunities to be able to have all those delicious edibles which I had seen, were under preparation and the other, the more important one of getting an unexpected holiday from school. So very good. I quietly told Laxman that to us, the Inspector of Schools is coming in the shape of GuruJi, on whose arrival the school gets a holiday.

With all this being over, time of suspense came. Guru Maharaj had not arrived though the expected time of arrival had passed. Neither had my father and uncle come back from the station. The greatest trouble in my mind was that we were for-bidden to touch any of the dishes (puddings I

liked the most) till all the specialities were offered to Guru Maharaj as a 'Prasad' to some diety and it was only after he has par-taken of it, things could be given to others. Really, I was not interested in Guru Maharaj. I was interested in the edibles only and these I could not get till his arrival and partaking of it. Naturally, my interest grew in him only as a means to an end.

Ultimately, after waiting for quite a long time, according to my that time childish standard, there was some commotion in the house, people running hither and thither when the coveted Guru arrived in a motor car which later I came to know, father had arranged from one of his friends to bring the exalted personality from Rly. station to our house-a distance of about two miles. From the car emerged a big person-really a big person I tell you in size, wearing saffron coloured flowing silk robes. Every one of the house and even of the locality was paying respects to him in a most respectful manner. He came in and directly went to the hall in the upper storey which was to be his abode during his stay at our house and which was most tastefully decorated for the occasion. A crowd was behind him. He sat on a raised dais temporarily made of 'Takhats'. Then came the lady folk of

our house-my mother, aunts, cousin sisters etc. etc. who had all come from their places early morning that day for the purpose, more or less, in a procession-nay a queue, each having a 'Thali' in her hands full of flowers & choicest fruits with candles burning and made offerings to the august personality after making obeisance to him. They then quietly sat on one side reserved for them. Uptil, now, I and Laxman went un-noticed but then some body thought of us and we were called to receive the blessings of Gurudev. As tutored before hand by mother, we both went and touched his feet with our hands and heads and stood quietly. Plainly speaking I was overawed by all this dramatic show going on which I was observing from the very start of his arrival at our place. While standing with folded hands before him, how much I wished if he could be kind enough to give me a few apples and some grapes which were lying in abundance in 'Thalies' presented to him by the ladies of our house. But to my dismay, he did not pay any heed to us and did nothing of the kind. In some corner of my mind, I started feeling that the person was greedy and wanted to have all the good things for himself and could not even spare a little of these for children of the home. I had the

experience that our elders in the family always shared such things with us– the children. Standing for some time there, I beckoned with my eyes to Laxman to move and we came out feeling quite frustrated. My first feelings which I had in confronting a Guru at a tender age of twelve can very well be understood by the talks which I had with my younger brother Laxman, the substance of which is given below and which I quite remember even to this day.

I– "Laxman, I could not like the Guru. He appears to be so selfish and greedy that he has kept all those heaps of fruits for his use and has not cared to give even a few of them to us."

Laxman:–"It is so– That is why he has become so fat. Must be eating like any thing. Bhai Sahib. Didn't you mark his belly. How protruded it is. To fill such a belly too much food is required."

So, with some apathy in our hearts, we both went down stairs and started doingsomething. Every body else was busy with Guru Maharaj.

Later, in the evening, a religious discourse had been arranged and dozens of grown

up people both ladies and gentlemen came to our place. In such a concourse, Guru maharaj gave long discourses on religion. I oft times also went in and tried to follow up things that were being said but briefly speaking, I could not make a head or tail about it except that it was some thing concerning various Gods, Brahma, Vishnu and Mahesh. Later in the night people dispersed. By that time was already sleeping.

So, the festivities and discourses etc. continued for a couple of days till the august personality stayed with us. The programme was more or less the same as on the first day. My curiosity having been satisfied, I had no much interest left in the Guru, except that in the festivities and some-times in the discourses where in the Guru Maharaj told interesting stories. One peculiar thing according to me struck me very much and that was when Guru Ji used to give the discourse or even when he was talking normally, the hearers were regularly exclaiming, 'Satya Vachan Maharaj.' This would not have in the ordinary course interested me but because of the fact that this oft repeated phrase came out even many times during one sentence uttered

by the Guru which to my childish sense meant that the hearers, even without hearing the whole sentence and without understanding the meaning or implications of the same, were calling out 'Satya Vachan Maharaj' mechanically. This looked quite strange to me and also meaning-less.

During the stay of the Guru, all persons viewed with each other in service to him; messaging oil on his bulky body, giving him a bath, towelling him, massaging his hair and so many other tit bits and in turn, he appeared to me to be doing nothing in return for all this service and rather was always expectant of this, meaning thereby that he felt himself to be perfectly entitled to this kind of behaviour.

What impression he created on his votaries or disciples or others, I donot know, but at the end of a week or so of his stay, the impression carved out in my mind was nothing but repulsion or even hatred towards him or his class, in those days of my child-hood.

So this was the first impression of a Guru in the child in me, such a long time before.

(To be continued)

Teachings of Sahaj-Marga

The Sahaj-Marga lays down the following rules, which though quite simple and natural, are of highest value in practical aspect. They offer a practical way of living, in due response to all the various responsibilities of a worldly life. It does not favour the cowardly way of shirking duty in respect of self, relations, society and God. It effects harmony in all phases and presents a consolidated picture of human life, as it ought to be and which every one must endeavour to follow.

1. Have firm faith in God—The One Absolute—, and live in him.
2. The two phases of life, the wordly and the Divine must go side by side, in conjunction with each other and must be attended to without least neglect of either.
3. Take everything in the sense of duty and attend to it faithfully with out any feeling of attraction or repulsion.
4. Love all beings with a spirit of service and sacrifice.
5. Give every one his fair dues, treating him as your own.
6. Treat elders with respect and youngers with affection abiding by the general rules of ettiquette.
7. Meet adversity with resignation, banishing from the heart, feelings of anger and vengence.
8. Follow tolerance and moderation in all activities of life.
9. Aim at the highest, putting in honest and sincere efforts for its achievement.